विषय	हिंदी
प्रश्नपत्र सं. एवं शीर्षक	**P2: मध्यकालीन कविता - 1**
इकाई सं. एवं शीर्षक	**M4: अपभ्रंश, अवहट्ट और पुरानी हिंदी**
इकाई टैग	**HND_P2_M4**

निर्माता समूह	
प्रमुख अन्वेषक	**प्रो. गिरीश्वर मिश्र** कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र) 442001 ईमेल : misragirishwar@gmail.com
प्रश्नपत्र समन्वयक	**प्रो. कृष्ण कुमार सिंह** अधिष्ठाता, साहित्य विद्यापीठ महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र) 442001 ईमेल : kks5260@gmail.com
इकाई लेखक	**प्रो. दयाशंकर त्रिपाठी** प्रोफेसर, हिंदी विभाग, सरदार पटेल विश्वविद्यालय, वल्लभ नगर, गुजरात ईमेल: tripathidayashankar11@yahoo.com
इकाई समीक्षक	**प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित** प्रोफेसर (सेवानिवृत्त), हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (उ.प्र) ईमेल : suryadixit123@gmail.com
भाषा संपादक	**प्रो. आनंद वर्धन शर्मा** प्रतिकुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र) 442001 ईमेल : anandsharma_64@yahoo.co.in

पाठ का प्रारूप

1. पाठ का उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. अपभ्रंश
4. अवहट्ट
5. अपभ्रंश के रूप या भेद
6. अपभ्रंश, अवहट्ट से पुरानी हिंदी का संबंध
7. निष्कर्ष

1. पाठ का उद्देश्य

इस पाठ का अध्ययन करने के उपरांत आप-

- अपभ्रंश और अवहट्ट के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।
- अपभ्रंश के विविध रूपों की जानकारी पा सकेंगे।
- अपभ्रंश और अवहट्ट से पुरानी हिंदी के भाषा, साहित्य और काव्यरूप गत संबंधों से अवगत हो सकेंगे।

2. प्रस्तावना

प्रत्येक भाषा के दो रूप होते हैं। एक है उसका बोलचाल का रूप और दूसरा है उसका मानक साहित्यिक रूप। प्राचीन भारतीय भाषा के दो रूप थे। बोलचाल के तौर पर वह 'लौकिक संस्कृत' कहलाती थी और उसका साहित्यिक रूप 'वैदिक संस्कृत' कहलाता था। वैदिक संस्कृत के रूढ़, जड़ और लौकिक संस्कृत से कट जाने पर पाणिनि, पतंजलि, कात्यायन आदि ने लौकिक संस्कृत का भरोसा किया और क्षेत्रीय अनेकरूपता को हटाते हुए उसे संस्कारित और व्याकरण सम्मत रूप दिया। ईसा पूर्व 500 ईसवी के पास उसका रूप किताबी हो गया और वह जनता की भाषा से कटकर दूर पड़ गयी। जनभाषा संस्कृत की व्याकरणिक जकड़बंदी को अस्वीकार कर नदी की तरह देश-काल भेद से अपना रूप बदलते हुए आगे बढ़ती रही। भाषा वैज्ञानिकों की धारणा है कि ईसा पूर्व 500 ईसवी से लेकर ईसवी सन् 1000 तक का समय 'मध्यकालीन आर्यभाषा' का है जिसे दूसरे शब्दों में 'प्राकृत भाषा' (पालि, प्राकृत, अपभ्रंश) कहते हैं। नमिसाधु की दृष्टि में 'प्राकृत' का अर्थ है जनता की प्रकृत या अकृत्रिम यानी सहज बोलचाल की भाषा। मार्कण्डेय और हेमचन्द्र 'संस्कृत' की प्रकृति और उससे जन्मी भाषा को 'प्राकृत' कहते हैं। अन्य कई विद्वान प्राकृत से संस्कृत का विकास मानते हैं। भाषा-विकास के नियम की दृष्टि से नमिसाधु की मान्यता अधिक सम्मत है और पूर्वापर संबंध की दृष्टि से मार्कण्डेय और हेमचन्द्र की। प्राकृत भाषा संस्कृत से नहीं, बल्कि अपने समय की जनभाषा का विकसित रूप है। ऐतिहासिक कालक्रम की दृष्टि से ईसा पूर्व 500 ईसवी से ईसवी सन् के प्रारंभ तक का काल 'प्रथम प्राकृत' का है जिसे 'पालि' कहते हैं। ईसवी सन् के प्रारंभ से लेकर ईसवी सन् 500 तक का काल 'द्वितीय प्राकृत' का है, जिसे 'प्राकृत' कहते हैं और ईसवी सन् 500 से ईसा की दसवीं शताब्दी का काल 'तृतीय प्राकृत' का है, जिसे 'अपभ्रंश' कहते हैं। अपभ्रंश के शिष्ट और साहित्यिक रूप के रूढ़ होते-होते आधुनिक देशी आर्य भाषाएं उससे मिलने लगीं। अपभ्रंश का सन् 1000 ईसवी के बाद का रूप देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश का है, जिसे 'उत्तरवर्ती', 'आगे बढ़ी हुई अपभ्रंश' या 'अवहट्ट' कहते हैं। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इसी को 'पुरानी हिंदी' कहते हैं। लेकिन पुरानी हिंदी, पुरानी गुजराती, पुरानी बंगला और पुरानी मराठी का विकास वहाँ से शुरू होता है, जहाँ से ये 'अवहट्ट' का प्रभाव खत्म करते हुए वह स्वयं अपनी भाषाई शक्ल लेना शुरू करती हैं। हिंदी का आरंभ भी यहीं से होता है।

3. अपभ्रंश

भारतीय आर्यभाषा की मध्यकालीन अवस्था के अंतिम चरण को 'अपभ्रंश' कहा जाता है। संस्कृत वैयाकरणों और काव्यशास्त्रियों ने अपने ग्रंथों में 'अपभ्रंश' और 'अपभ्रष्ट' का नाम लिया है। उनकी दृष्टि में संस्कृत से भिन्न सभी भाषाएं 'अपभ्रंश' या 'अपभ्रष्ट' हैं। व्यापक अर्थ में व्याकरण असम्मत, अशुद्ध यानि व्याकरण च्युत बिगड़ी हुई जनभाषा को वे 'अपभ्रंश' या 'अपभ्रष्ट' कहते हैं। अपभ्रंश काव्यों में तद्भव रूपों को वरीयता दी गयी है। उद्योतन सूरि (8वीं शताब्दी) ने अपने ग्रंथ 'कुवलयमाला' में 'अपभ्रंश' के स्थान पर उसके तद्भव 'अवब्भंस' और महापुराणकार पुष्पदंत (12वीं शताब्दी) ने 'अवहंस' को पसंद किया है। इसी प्रकार रामायणकार स्वयंभू (8वीं शताब्दी) ने 'अवहत्थ', संदेसरासककार अद्दहमाण (12वीं शताब्दी) 'अवहट्य', ज्योतिरीश्वर ठाकुर (14वीं शताब्दी) ने 'वर्णरत्नाकर' में 'अवहठ'

और कीर्तिपताकाकार विद्यापति (14वीं शताब्दी) ने 'अवहट्ठ' का प्रयोग किया है, जो संस्कृत के 'अपभ्रष्ट' शब्द के तद्भव हैं।

महाभाष्यकार पतंजलि (दूसरी शताब्दी), वाक्यपदीयकार भर्तृहरि, काव्यादर्शकार दण्डी ने अपभ्रंश शब्द का प्रयोग अपने संस्कृत ग्रंथों में पहले-पहल किया। 6-7वीं शताब्दी तक संस्कृत के काव्यशास्त्रियों-दण्डी, भामह, प्राकृत व्याकरणाचार्य 'चण्ड' ने अपभ्रंश का प्रयोग भाषा के संदर्भ में किया है। पश्चिमी भारत में आभीरों-गुर्जरों के बसने, राज्य स्थापित होने और उनकी भाषा को राजदरबार से प्रोत्साहन मिलने के कारण आठवीं शताब्दी तक अपभ्रंश काव्य भाषा के रूप में मान्य हो गयी। 'काव्य मीमांसाकार' राजशेखर ने संस्कृत, प्राकृत के साथ अपभ्रंश कवियों को याद करते हुए राजसभा में पश्चिम की ओर उन्हें बैठाने की व्यवस्था दी है।

भाषा के रूप में इसके लिए एक नाम और प्रचलित था- 'देसी भाषा' या 'देसी बचन'। उद्योतन सूरि ने अपने 'कुवलय माला' का आनंद उठाने के लिए देसी भाषा के लक्षणों और क्रियाओं का जानकार होने का आग्रह रखते हुए कहा कि- 'जो जाणइ देसीओ हासाओ लक्खणाइ धाऊ दय'। स्वयंभू ने अपनी काव्यभाषा को 'देशी भाषा' (देसी भासा उभय तडुज्जल) और पुष्पदत्त ने 'देसिण वियाणामि' और विद्यापति ने 'देसिल बयना' कहा है। भाषा वैज्ञानिकों में 'अपभ्रंश' और 'देशी भाषा' के संदर्भ में मतभेद है। पिशेल, ग्रियर्सन और सुनीतिकुमार चटर्जी अपभ्रंश और देशी भाषा को एक मानते हैं, जबकि हरमन याकोबी, कीथ तथा ज्यूल ब्लाख देशी भाषा को अपभ्रंश से अलग मानते हैं।

अपभ्रंश भाषा का व्याकरणिक ढाँचा संस्कृत पालि-प्राकृत की तुलना में संक्षिप्त और सरल बन गया। ध्वनियों की संख्या कुछ कम हो गयी। कुछ ध्वनियों का लोप हो गया तो कुछ नयी ध्वनियाँ भी शामिल हो गयीं। अनेक ध्वनियों में परिवर्तन हो गया। जैसे- म/वं; य/ज; व/ब; ष्ण/न्ह; न/ण; श,ष,स/स,या श, क्ष/क्ख,च्छ, ऋ/रि, रु, र आदि। लोप, आगम, वर्ण विपर्यय, ख ध, छ, झ, थ, ध, फ, भ आदि महाप्राण वर्णों का 'ह' में रूपांतरण, संयुक्त वर्णों के स्थान पर द्वित्वीकरण और क्षतिपूरक दीर्घीकरण, स्वराघात के स्थान पर बलाघात की प्रवृत्ति अपभ्रंश में पालि-प्राकृत से बहुत बढ़ गयी। अपभ्रंश की प्रवृत्ति उकारबहुला है। इसके साथ उसमें वियोगात्मक प्रवृत्ति की बढ़ोत्तरी हो चली। विभक्ति के स्थान पर स्वतंत्र परसर्ग सामने आए। नपुंसक लिंग तथा द्विवचन समाप्त हो गये। संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया के रूपों की संख्या संस्कृत की तुलना में एक चौथाई रह गयी। अपभ्रंश ने अपने सर्वनाम विकसित किये और क्रिया का झुकाव तिङन्त से कृदंतीय हो गया। अपने उत्तरवर्ती काल में अपभ्रंश पूर्ववर्ती रूप से इतनी अलग और दूर जा पड़ी कि वह पुरानी हिंदी के विकास का मार्ग प्रशस्त करने में प्रत्यक्ष सहायक सिद्ध हुई।

4. अवहट्ट

पश्चिम में हेमचन्द्र, अब्दुल रहमान (12वीं शताब्दी) ने क्रमश: 'ग्राम्य अपभ्रंश', 'अवहट्ठ' का प्रयोग पहले पहल किया तो पूर्व में ज्योतिरीश्वर ठाकुर और विद्यापति (14वीं शताब्दी) ने 'अवहठ' या 'अवहट्ठ' का। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'अपभ्रंश' का तद्भव रूप 'अवहंस' और 'अपभ्रष्ट' का तद्भव रूप 'अवहट्ट' है। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी और डॉ. नामवर सिंह 'अपभ्रंश' और आधुनिक आर्यभाषाओं के बीच की कड़ी 'अवहट्ट' को मानते हैं। लेकिन डॉ. भोलानाथ तिवारी 'अपभ्रंश' और 'अवहट्ट' को एक ही भाषा मानते हैं। अब्दुल रहमान और विद्यापति के साक्ष्य- 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा। ते तयसन जंपओ अवहट्ठा' से बहुत साफ है कि वे विशुद्ध अपभ्रंश नहीं, बल्कि देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश को 'अवहट्ट' कह रहे हैं। स्थान की दृष्टि से उसके तीन भेद थे- पश्चिमी अवहट्ट, मध्यदेशीय अवहट्ट और पूर्वी अवहट्ट।

इसके बाद मध्यदेशीय हिंदी बोलियाँ- ब्रज, अवधी, खड़ी बोली, मैथिली आदि अपना स्वतंत्र आकार ग्रहण करने लगती है।

5. अपभ्रंश के रूप या भेद

अपभ्रंश के रूप या भेद को लेकर विद्वान एकमत नहीं है। 'प्राकृतसर्वस्व' के प्रणेता मार्कण्डेय बताते हैं कि कुछ लोग अपभ्रंश के 27 भेद मानते हैं, लेकिन वे स्वयं अपभ्रंश के तीन भेद- 'नागरो ब्राचडश्चोपनागरश्चेति ते त्रय:' भेद अर्थात् नागर (गुजरात) उपनागर (राजस्थान) ब्राचड (सिंध) मान्य करते हैं। 'काव्यालंकर' के टीकाकार नमिसाधु भी अपभ्रंश के तीन रूप - 'नागराभीरग्राम्यत्व भेदेन त्रिधोक्त:' मानते हैं। उनके आभीर और ग्राम्य अपभ्रंश बहुत स्पष्ट नहीं है, लेकिन मार्कण्डेय का नागर और नमिसाधु का उपनागर अपभ्रंश एकार्थी है।

अपभ्रंश पर काम करने वाले आधुनिक विद्वानों ने अपभ्रंशों के रूप का निर्धारण क्षेत्र के आधार पर किया है। डॉ. हरमन याकोबी क्षेत्रीय आधार पर अपभ्रंश के चार भेद-पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी, दक्षिणी- करते हैं। डॉ. तगारे इनमें से उत्तरी अपभ्रंश को नहीं मानते। कारण, उसमें रचनाएं नगण्य हैं। शेष तीन- पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी को वे मानते हैं। याकोबी की पूर्वी अपभ्रंश की धारणा का आधार 'प्राकृत पैंगलम्' और प. हरप्रसाद शास्त्री संपादित बौद्ध सिद्धों की रचनाएं हैं, लेकिन ज्यूलब्लाख, एस.एन. घोषाल, पं. रामचन्द्र शुक्ल से लेकर नामवर सिंह यह मानते हैं कि सिद्धों की साहित्यिक भाषा पूर्वी अपभ्रंश (मागधी) न होकर शौरसेनी (पश्चिमी) अपभ्रंश है। अपभ्रंश की शिष्ट स्वीकृत काव्यभाषा शौरसेनी थी, इस बात का स्वीकार 'शेष शौरसेनीवत्' कह कर हेमचन्द्र करते हैं। हाँ, ध्वनि के स्तर पर उसमें कुछ क्षेत्रीय अंतर अवश्य था। रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि सिद्धों ने भरसक 'उसी सर्वमान्य व्यापक काव्य भाषा में लिखा है जो उस समय गुजरात, राजपूताना और ब्रजमंडल से लेकर बिहार तक लिखने-पढ़ने की शिष्टभाषा थी।' पर मगध में रहने के कारण सिद्धों की भाषा में कुछ पूर्वी प्रयोग भी, जैसे- भइले, सुतेलि, बूड़िलि आदि मिले हुए हैं। सिद्ध कण्हपा के दोहे टकसाली शौरसेनी में हैं, पर चर्या गीतों की भाषा में पूरबी बोली (पुरानी बिहारी) की गहरी छाप है। डॉ. नामवर सिंह शुक्ल जी की इसी बात को अपने शब्दों में विकसित करते हुए कहते हैं कि "यदि पूर्वी अपभ्रंश का अर्थ पूर्वी ग्रंथों की साहित्यिक भाषा है तो निश्चय ही पूर्वी अपभ्रंश नाम की कोई चीज नहीं है। लेकिन यदि पूर्वी अपभ्रंश का तात्पर्य मागधी अपभ्रंश से है, जो कि आधुनिक पूर्वी बोलियों का मूलस्रोत है, तो निश्चय ही उसका अस्तित्व था। दर असल साहित्य की भाषा में पश्चिम और पूरब का भेद प्राकृतकाल से चला आ रहा है और अपभ्रंश युग में उसके मिट जाने का कोई तर्कसंगत ऐतिहासिक कारण नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अपभ्रंश के दो क्षेत्रीय भेद थे- पश्चिमी और पूर्वी। 'पश्चिमी अपभ्रंश परिनिष्ठित' थी और पूर्वी अपभ्रंश उसकी विभाषा मात्र थी।"

डॉ. भोलानाथ तिवारी आधुनिक आर्य भाषाओं की व्युत्पत्ति की दृष्टि से अपभ्रंशों के सात-केकय, टक्क, ब्राचड, महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्थमागधी- रूप मानते हैं। पं. किशोरी दास वाजपेयी इनके साथ खड़ी बोली के मद्दे नजर 'कौरवी अपभ्रंश' को जोड़ते हैं।

6. अपभ्रंश, अवहट्ट से 'पुरानी हिंदी' का संबंध

पं. चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' विक्रम की सातवीं से ग्यारहवीं, पं. रामचन्द्र शुक्ल और पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी सातवीं से पन्द्रहवीं, डॉ. नामवर सिंह आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश का काल मानते हैं और अपभ्रंश से पुरानी (प्रारंभिक) हिंदी का भाषा और साहित्यगत पूर्वापर ऐतिहासिक संबंध मानते हैं। **गुलेरी जी** का कहना है कि 'विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिंदी में परिणत हो गई। इसमें देशी

भाषा की प्रधानता है। पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और परवर्ती अपभ्रंश पुरानी हिंदी से।' दरअसल शौरसेनी अपभ्रंश की भूमि ही पुरानी हिंदी की भूमि है। अन्तर्वेद, ब्रज, दक्षिणी पंजाब, टक्क, भादानक, मरु, त्रवण, राजपूताना, अवंती, दशपुर सौराष्ट्र तक यह फैली हुई थी। यद्यपि पैशाची, महाराष्ट्री आदि उसके कई भेद थे, लेकिन उनमें शौरसनी अपभ्रंश की प्रधानता थी। पुरानी गुजराती, 'पुरानी राजस्थानी' नाम कृत्रिम है। कविता की भाषा प्राय: सब जगह एक ही सी थी। उसे पुरानी हिंदी कहने का औचित्य यही है। हाँ, यह बात अवश्य है उसमें स्थानभेद के कारण प्रांतीय बोलियों की छाप पड़ी है। भाषा के ढाँचे की एकरूपता के कारण अपभ्रंश और पुरानी हिंदी के बीच देशकाल की दृष्टि से कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। हेमचन्द्र (सिद्ध हेम शब्दानुशासन), शाडर्गधर (शाडर्गधर पद्धति) मेरुतुंग (प्रबंध चितांमणि) सोमप्रभाचार्य (कुमारपाल प्रतिवोध) में कुछ ऐसे उदाहरण संगृहीत हैं, जो अपभ्रंश और पुरानी हिंदी, दोनों के हैं। गुलेरी जी के बाद **राहुल सांकृत्यायन** ने बौद्ध सिद्धों के साहित्य की खोज की। उन्होंने 'सरहपाद' को हिंदी का पहला कवि घोषित करते हुए पुरानी हिंदी का सूत्र बंगाल और बिहार के सीमांत से जोड़ दिया। **पं. रामचन्द्र शुक्ल** ने पुरानी हिंदी के भाषाई दायरे को और व्यापक बनाया। उन्होंने गुलेरी जी की 'पिछली अपभ्रंश' और 'पुरानी हिंदी' को 'देश भाषा मिश्रित अपभ्रंश' या 'प्राकृताभास हिंदी' कहना ज्यादा पसंद किया और उसके दायरे में पश्चिम के जैन धर्मोपदेशों को स्वयंभू, पुष्पदंत आदि जैन कवियों और हेमचन्द्र तथा सोमप्रभसूरि, मेरुतुंग, शाडर्गधर आदि संग्रहकारों को शामिल किया, साथ ही पूरब के बौद्ध-सिद्धों, मिथिला के विद्यापति, पश्चिमोत्तर के नाथों को भी शामिल किया। नाथों के साहित्य को पुरानी हिंदी में शामिल करने का ठोस आधार डॉ. पीतांबर दत्त बड़थ्वाल द्वारा 'गोरखबानी' का प्रकाशन और अन्य नाथ सिद्धों की पांडुलिपियां थीं। उन्होंने पश्चिम से लेकर पूरब के सिद्धों की काव्य भाषा को मूलत: पछांही माना, लेकिन नाथों की भाषा के बारे में महत्त्वपूर्ण बातें कहीं, जो खड़ी बोली के प्रारंभिक विकास की सूचक हैं। "नाथपंथ के इन योगियों ने परंपरागत साहित्य की भाषा या काव्यभाषा से, जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रज का था, अलग एक 'सधुक्कड़ी' भाषा का सहारा लिया, जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी था।" कबीर और दादू की साखियों की भाषा यही है। पंजाब के शेखफरीद, अली बू शाह कलंदर और दिल्ली के खुसरो आदि की भाषा भी यही है।

प. हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. नामवर सिंह की धारणा अपभ्रंश और पुरानी हिंदी के संदर्भ में कुछ अलग है। द्विवेदी जी का कहना है कि 'भाषा की दृष्टि से हेमचन्द्राचार्य द्वारा परिभाषित परिनिष्ठित अपभ्रंश के साथ पुरानी हिंदी- जिसमें ब्रज, अवधी, बुंदेली, बघेली आदि की गणना की जाती है, घनिष्ठ संबंध तो है, परंतु निकट का संबंध नहीं कह सकते। उससे तो आधुनिक गुजराती और राजस्थानी अवश्य विकसित है, लेकिन हिंदी की बोलियों के विकास से उसका 'परोक्ष संबंध' एक पुश्त पहले का संबंध है। असल में हेमचन्द्र ने दो प्रकार की अपभ्रंश भाषा का जिक्र किया है। एक-परिनिष्ठित अपभ्रंश, जिसका उन्होंने स्वयं व्याकरण लिखा है और दूसरी है 'ग्राम्य अपभ्रंश'। यह पहली से अधिक आगे बढ़ी हुई (एडवांस्ड) है। इसी कारण उन्होंने पहले प्रकार की काव्य भाषा वाली जैन, सिद्ध यहाँ तक कि नाथों के साहित्य को हिंदी साहित्य के इतिहास की 'प्रस्तावना' में शामिल करते हुए 'ग्राम्य अपभ्रंश' की सूचक धनपाल, जोइंदु, रामसिंह, अब्दुल रहमान, विद्यापति की रचनाओं और 'प्राकृत पैंगलम' के उदाहृत अधिकांश पद्यों को आधुनिक देशी भाषाओं के विकास का प्रत्यक्ष कारण माना है। उनकी स्थापना है कि "साहित्य की दृष्टि से यह काल बहुत कुछ अपभ्रंश काल का ही बढ़ाव है, पर भाषा की दृष्टि से यह परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा की सूचना लेकर आता है। इसमें भावी हिंदी भाषा और उसके काव्यरूप अंकुरित हुए हैं।" इसी के कारण उन्हें हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रथम चरण का नाम 'आदिकाल' अधिक उपयुक्त लगता है। डॉ. नामवर सिंह की मूल स्थापनाएं यही हैं; लेकिन वे द्विवेदी जी की मान्यता को जैनों की कुछ और परवर्ती रचनाओं, उक्तिव्यक्तिप्रकरण आदि को जोड़कर अधिक व्यापक और सघन बनाते हैं।

आधुनिक भाषा वैज्ञानिक अपभ्रंश और हिंदी के संबंध को व्युत्पत्ति मूलक दृष्टि से देखते हैं। वे आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का उद्भव विभिन्न क्षेत्रीय अपभ्रशों से मानते हैं। डॉ. भोलानाथ तिवारी की दृष्टि में 'शौरसेनी' अपभ्रंश से पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, गुजराती और पहाड़ी का, 'मागधी' से बिहारी, बंगाली, उडिया, असमिया का, 'अर्ध मागधी' से पूर्वी हिंदी का, 'केकय' से लहंदा, 'टक्क' से पंजाबी, 'ब्राचड' से सिंधी और 'महाराष्ट्री' अपभ्रंश से मराठी का विकास हुआ। वे कहते हैं कि हिंदी भाषा और उसकी बोलियों का उद्भव अपभ्रंश के शौरसेनी, मागधी और अर्ध मागधी रूपों से हुआ है। पं. किशोरीदास वाजपेयी शौरसेनी अपभ्रंश से इतर 'कौरवी अपभ्रंश' को इसमें जोड़ते हैं जिससे खड़ी बोली का विकास हुआ। कारण कि खड़ी बोली 'आकारांत' है और पश्चिमी हिंदी 'ओकारांत'। इसलिए दोनों की जननी भाषाएं एक नहीं हो सकती।

भाषा वैज्ञानिकों का मानना है ध्वनि, रूप और शब्द भण्डार की दृष्टि से पुरानी हिंदी सीधे अपभ्रंश की उत्तराधिकारी है। सर्वनाम, परसर्ग, क्रिया, विशेषण में वह अपभ्रंश के दाय को और विकसित करती हुई धीरे-धीरे अपना स्वतंत्र रूप बनाती है। पुरानी हिंदी की प्रारंभिक अवस्था में तद्भव और देशज रूपों के प्रति विशेष आग्रह का कारण भी अपभ्रंश है।

पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और रामचंद्र शुक्ल अपभ्रंश से पुरानी हिंदी के साहित्यिक और काव्यरूप संबंध को स्वीकारते हैं, लेकिन एक तो यह सामग्री इधर-उधर बिखरी है, दूसरे उसकी मात्रा बहुत कम है। शुक्ल जी ने सिद्धों-नाथों की विषय वस्तु और काव्य रूप को नामदेव, कबीर आदि निर्गुणिया संतों से जोड़ा। पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ऐसे विद्वान हैं जिन्होंने अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी के साहित्यिक संबंध पर व्यवस्थित रूप से और काफी विस्तार से विचार किया। द्विवेदी जी का कहना है कि अपभ्रंश साहित्य में दोहा, पद्धड़िया और गेय पदबंध विशेष प्रचलित थे। दोहा या दूहा अपभ्रंश का सबसे प्रचलित लाडला छंद रहा है। मुक्तक काव्य का वह सारथी था। उसके उपयोग में बड़ी विविधता थी। पूरबी बौद्ध-सिद्धों और पश्चिम के देवसेन, जोइंदु, रामसिंह जैन मुनियों के धार्मिक उपदेशों का वह वाहन था, जो हिंदी के संत कवियों की साखियों, की प्रेरणा बना। दूसरी बात, इन दोहों का उपयोग श्रृंगार और प्रेमचर्या में हुआ, जिनकी परंपरा में 'ढोला मारुरा दोहा' से लेकर बिहारी, मतिराम आदि की सतसइयों का विकास हुआ। इनका उपयोग युद्ध के संदर्भ में हुआ जिसकी परंपरा विशेष रूप से राजस्थानी में आगे बढ़ी। इस प्रकार दोहों का उपयोग व्यावहारिक शिक्षा और नीति की बातों में हुआ जिसका निर्वाह आगे तुलसी, रहीम और बिहारी ने किया। दूसरा पद्धड़िया बंध है जो प्रबंध, चरित, कथा काव्य के लिए रूढ़ था। पश्चिम के जैन कवियों ने उसे धत्ता या कड़वक के साथ लिखा तो पूरब में सरह आदि ने चौपाई दोहा बंध की पद्धति अपनाई। संतों की रमैनियों, सूफी कवियों के प्रेमाख्यानों और तुलसी के रामचरित मानस में यही परंपरा आगे बढ़ी। अपभ्रंश का तीसरा बंध गेय पदबंध था जो जनता के देशी गीतों और रागों से जुड़ा था। इसकी प्रकृति कथात्मक और गैरकथात्मक दोनों थी। रासक, रास, रासो, चॉचर, फागु, लीला पद, चर्यापद गेयपदबंध है। पृथ्वीराज रासो से रासो की तथा विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी आदि से गेय पदबंध की परंपरा आगे चली।

छंदों के विकास की दृष्टि से अपभ्रंश काव्य बहुत समृद्ध है। मात्रिक छंदों की ओर उसका विशेष झुकाव है और उसमें तुक मिलाने की अपनी खूबी है। दोहा अपभ्रंश का अपना मात्रिक छंद है। गुलेरी जी संस्कृत और प्राकृत से अपभ्रंश के पार्थक्य का आधार इसे ही मानते हैं। बाद में पं. रामचंद्र शुक्ल और द्विवेदी जी ने भी इसका अनुमोदन किया। चौपाई, दोहा, उल्लाला, रूपमाला के साथ छप्पय, जिसके राजा चंदवरदाई हैं, कुंडलिया, वीर (आल्हा), अहीर (सोरठा),

हरिगीतिका, गीतिका, तोमर, त्राटक आदि छंद अपभ्रंश के अपने मांत्रिक छंद है। पुरानी हिंदी ने अपभ्रंश की समृद्ध छंद विरासत को और समृद्ध किया। हिंदी की ब्रजभाषा (कवित्त और सवैया), अवधी (बरवै) ने अपने छंद भी विकसित किये। हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कहना सही है कि साहित्य परंपरा की दृष्टि से हिंदी में अपभ्रंश के सभी काव्य रूपों की परंपरा, अधिकांश ज्यों के त्यों और कुछ थोड़ा बदलकर सुरक्षित है।

7. निष्कर्ष

पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी से लेकर नामवर सिंह तक सभी इस बात से सहमत हैं कि अपभ्रंश का परिनिष्ठत साहित्य, जो स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल, देवसेन आदि की रचनाओं में सुरक्षित है, पुरानी हिंदी से सीधे संबंधित नहीं है। जैन कवियों के चरित-कथा काव्यों से हिंदी प्रबंध काव्यों के कथानकों, कथानक रूढ़ियों, काव्यप्रसिद्धियों, रूपकों, वस्तुविन्यास की वर्णनशैली तथा काव्यकौशल को समझने में सहायता मिलती है। दरअसल पुरानी हिंदी का प्रत्यक्ष ऐतिहासिक (भाषा, साहित्य, काव्य रूप सभी दृष्टियों से) संबंध गुलेरी जी कथित पिछली अपभ्रंश, शुक्ल जी कथित 'देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश', द्विवेदी जी द्वारा कथित आगे बढ़ी हुई 'ग्राम्य अपभ्रंश', डॉ. नामवर सिंह कथित 'उत्तर या परवर्ती अपभ्रंश' से है। आधुनिक देशी भाषाओं की वस्तु, भाषा शैली, काव्यरूप, छंद आदि इसी से आगे विकसित होते हैं।